

गंगा तीरे, सरयू तीरे

राममनोहर लोहिया।

अजीबोचरित्र वाले इस नायक की कहानी शुरू करने के लिए मेरे साथ ही पाठकों को तीन पुस्त पीछे से चलना शुरू करना होगा।

बात है उन्नीसवीं शताब्दी के सौंझ की।

एक है शहर, नाम मिर्जापुर। गंगा के किनारे। पूरब देखें तो काशी और पश्चिम घूमें तो प्रयाग।

दो बड़े तीर्थों के बीच बसा मिर्जापुर।

महाभारत काल में बना, विन्ध्याचल पहाड़ पर अष्टभुजी देवी का मंदिर। वहाँ के पंडों के पास हर सनातनी हिन्दू के पुश्त-दर-पुश्त का खाता सुरक्षित है।

इसी मन्दिर से सटी और गंगा तट पर बसी बस्ती का ही मुगलकालीन नाम है – मिरजापुर।

हम जिस जमाने की बात कर रहे हैं, तब यह एक सम्पन्न बस्ती थी। आज तो अभागी विधवा के उजड़े भाल सा वहाँ सब कुछ विरान है। अब तो यह है एक उजड़ा शहर, श्रीहीन बस्ती, लेकिन तब यह एक कंचन-पोषित नगरी थी। व्यापार की एक बडी मंडी, सुदूर विन्ध्य-प्रदेश के व्यापारी-क्षेत्र का प्रवेश द्वार। यहाँ नील, लाख, लोहा और अन्न का चलता व्यापार था। यहाँ के लोग मस्त और फक्कड़ होते। भाँग का नशीला सेवन चरित्र का एक अंग था। दूसरों के लिए जान दे देने में और आंख टेढ़ी करने पर जान ले लेने में भी संकोच नहीं, क्षण भर भी देरी नहीं। सिर से एक हाथ ऊँची लाठी तो शरीर का एक अंग थी।

लेकिन यह बात है पुरानी। पिछली शताब्दी की। आज का मिर्जापुर बिल्कुल बदल गया है, जैसे कई फसलों से सूखे पेड़ खेतों का हाहाकार करता रूप। अब यह नगरी बांझ सी श्रीहीन है।

इसी नगरी की चर्चा है। तब उन्नसवीं शताब्दी का बुढ़ापा था।

उसी युग में मिरजापुर में एक सम्पन्न वैश्य परिवार था। लोहे और कपड़े के व्यापार से अच्छी आय थी। इस परिवार के मुखिया थे लाला मनसुखराम। लोहे का व्यापार पुराना था और इसीलिए कई पुश्त से परिवार को 'लोहिया' नाम मिल गया था।

लाला मनसुखराम के पूर्वजों की खोज में न भटक कर हम इन्हीं से अपनी कथा प्रारंभ करेंगे।

पुराने जमाने में लोग सम्पन्नता के साथ दयालु भी होते थे। अपने मनसुखराम जी भी कम दयालु न थे। उनकी सज्जनता की आस पास के इलाकों में शोहरत थी और उसी शोहरत का सहारा लेकर एक दिन उनके दरवाजे पर आ पधारे एक दिन ब्राह्मण देवता। बेचारे दुर्दिन के चपेट में अपनी जमीन बेचना चाहते थे। उन्होंने मनसुखराम को अपनी जमीन देनी चाही। मनसुखराम ईश्वर से डरने वाले, धर्म-कर्म वाले प्राणी थे। ब्राह्मण की जमीन खरीदने के पाप के भागी कैसे बनते ! लेकिन जमीन बिकेगी नहीं तो बेचारे ब्राह्मण का काम कैसे चलेगा ! मनसुखराम ने ब्राह्मण को उसकी आवश्यकता के रूपये दे दिये और जमीन रेहन रख ली ताकि जब चाहे रूपये लौटाकर ब्राह्मण अपनी जमीन वापस ले ले।

लेकिन होनी कुछ और ही थी। मनसुखराम के जीवन काल में ब्राह्मण कर्ज से मुक्त न हो सका और जब काफी दिनों बाद भी वह कर्ज न चुका पाया तो ग्लानिवश उसने आत्महत्या कर ली।

इस दुर्घटना से आसपास एक कानाफूसी शुरू हुई। ब्राह्मण तो मरा अपनी ग्लानि और पश्चाताप से, पर लोगो ने कहा कि ब्रह्म हत्या का दोष लगेगा मनसुखराम लोहिया के परिवार को।

तब पाप-पुण्य का लोग ध्यान रखते थे। एक ब्राह्मण की मौत तो हुई ही थी। समस्त लोहिया परिवार भयत्रस्त हो उठा और होता भी क्यों न !

लोगों ने कहा कि आत्महनन करके ब्राह्मण ब्रह्म बन गया है और अवश्य ही उस ब्रह्म का कोप होगा उस लोहिया परिवार पर ।

कोप लक्षण भी जल्दी ही दिखाई पड़े। अविश्वास करने से काम नहीं चलेगा। घटनाएं जो घटीं, वे अनहोनी थीं।

मनसुखराम के चार पुत्र थे। गोपीलाल, किशनलाल, शिवनारायण और विशुनदयाल। इन बेचारों ने ब्रह्म कोप का परिणाम अपनी आंखो से देखा। गोपीलाल निःसंतान रहे अकाल मृत्यु के शिकार हुए। किशनलाल भी दो बेटों को छोड़कर गोपीलाल के पथगामी हुए। दो-दो भाईयों को ब्रह्म-कोप का शिकार होते देख शिवनारायण और विशुनदयाल घबराएं। यह स्वाभाविक ही था और ब्रह्म-कोप का यहीं अंत भी न था। किशनलाल के दो बेटों – रामकुमार और राम निरंजन में दूसरे बेटे की बाल मृत्यु हुई।

चिन्ता बढ़ी । क्या पूरे परिवार को ही कोपभाजन बनना होगा। काशी से पंडित आए। बहुत विचार और बताया कि ब्रह्म-कोप से बचना है तो परिवार को गंगा का यह तट छोड़कर श्रीरामचन्द्र की नगरी अयोध्या में जाकर सरयू तट पर शरण लेनी होगी, तभी कल्याण संभव है।

मरता क्या न करता ! सुरक्षा के लिए बालक रामकुमार को कलकत्ता भेजकर शिवनारायण और विशुनदयाल ने पूरे परिवार के साथ बिस्तर बांधा । गंगा को प्रणाम किया, मिर्जापुर से विदा ली और चल पड़े सरयू तीरे।

जान है तो जहान है।

मिर्जापुर छूट गया। पुराना घर छूटा, व्यापार छूटा। जा बसे अयोध्या में। चैन की सांस ली, लेकिन जीविका ?

जीविका की खोज में शिव नारायण अकबरपुर आए। अयोध्या से सटा हुआ अकबरपुर। तमसा नदी की शांत धारा के किनारे एक शांत कस्बा। यहीं उपयुक्त स्थान खोजकर व्यापार जमाने का प्रयत्न किया, पर एक बार उखड़ा, जल्दी जमता कहाँ है! जीविका का सहारा तो हो गया पर वह मिर्जापुर वाली बात कहाँ ! धनी तो न बन पाए, हाँ खाते-पीते काम चलने लगा।

मिर्जापुर में शिवनारायण ने बड़े मौज के दिन काटे थे। वे दिन अब सपने हो गये। शिवनारायण पूरे मिरजापुरी थे। कसरती गटा शरीर। लाठी चलाने और दण्ड-बैठक के अच्छे अभ्यासी। दस-दस सेर दुध की कढ़ाई उठाकर एक साथ पी जाना उनके लिए साधारण बात थी और मौजी ऐसे कि शाम को घूमकर घर लौटने पर अकसर कुरता उतारने के लिए बटन खोलने की झंझट से बचने को कभी-कभी पूरा कुरता फाड़कर ही उतारते थे, पर यह मिर्जापुरी बातें वही छूट गईं।

शिवनारायण के चार पुत्र थे गणेश नारायण, शंकरलाल, बाबूलाल और हीरालाल।

अकबरपुर आने पर भी ब्रह्म-कोप का प्रहार समाप्त न हुआ। क्रमशः गणेशनारायण, शंकरलाल और बाबूलाल तीनों भरी जवानी में, एक के बाद एक जाते रहे।

बच रहे केवल हीरालाल।

और एक संयोग देखिए। शिवनारायण की शाखा में किसी कन्या का जन्म ही नहीं हुआ। आगे चलकर हीरालाल को केवल एक ही संतान हुई, सो भी बालक, राममनोहर।

सारे परिवार पर जैसे मौत की निगाह गड़ गई थी। अकाल मृत्यु का ऐसा उदाहरण और कहीं शायद ही मिले। यदि शिवनारायण और विशुनदयाल के परिवार को जोड़कर हिसाब लगाया जाए तो अकबरपुर आने के बाद, शिवनारायण के तीन पुत्र अकाल में काल के ग्रास बने और विशुनदयाल के पुत्र पुरुषोत्तम के चौबीस बच्चे हुए, जी सका केवल एक। विशुनदयाल के दूसरे पुत्र काशीप्रसाद भी जवानी में ही काल-कवलित हुए।

मृत्यु का ऐसा भीषण प्रहार ! उसने जैसे इसी परिवार को ही चुन रखा था।

शिवनारायण के लिए केवल एक आशा—दीप थे, हीरालाल। हीरालाल की जीवन रक्षा के लिए शिवनारायण सशक्त, सतर्क और चिंतित रहने लगे।

खेलते—कूदते, परिवार के प्यार दुलार के एकमात्र अधिकारी हीरालाल बड़े हुए।

अयोध्या व अकबरपुर की मिट्टी में खेलकर हीरालाल बड़े हुए।

कभी दशरथ के चारों पुत्र भी इसी मिट्टी में खेलें होंगे। दशरथ के बेटों की शादी मिथिला में हुई थी। हीरालाल की बारात भी मिथिला ही गई।

मिथिला प्रदेश के चनपटिया नामक गांव के झुनझुनवाला परिवार की बेटी चन्दा के साथ हीरालाल का विवाह हुआ।

चंदा का रंग सांवला, कद नाटा था।

एक दिन ससुराल में चंदा ने किसी बुर्जुग के मुँह से एक पुरानी बात सुनी। अयोध्या से वनवास के लिए निकलने पर श्रीराम ने पहली रात इसी तमसा के किनारे, इसी अकबरपुर में काटी थी। यह थी तो बात किंवदन्ति, पर पता नहीं क्यों चन्दा कर मन अजीब प्रकार की भावना से भर गया। उन्होंने मन ही मन सोचा — मैं हूँ जानकी के देश की, आ गई राम के देश में और यहां की धूलि ने श्रीराम का चरणों को स्पर्श पाया है। सोचते—सोचते चन्दा आत्मविभोर हो उठीं।

सन् 1910

होली अभी—अभी बीती है।

गुलाल के कण अभी भी वातावरण में फैलें हैं।

अक्षय तृतीया, चैत्र कृष्ण तृतीया।

23 मार्च, 1910

प्रातः काल।

नये सूरज के आगमन के साथ ही चन्दा की गोद भरी। चन्दा माँ बनी। गोंद में शिशु। लगा कि कभी कौशल्या की गोद में ऐसे ही राम भी आए होंगे।

नवजात शिशु का नाम रखा गया, राममनोहर।

होनहार बिरवा..... चिकने पात

(1910—1929)

पिता हीरालाल ।

माता चन्दा ।

शिशु राममनोहर ।

शिवनारायण ने पौत्र-दर्शन का सुख पाया, लेकिन अब तक परिवार की शाखाओं को एक-एक कर जिस प्रकार वे टूटते देख चुके थे, उसकी कल्पना करके ही जी काँप जाता था। शिशु राममनोहर के दीर्घार्यु की ही वह मन ही मन कामना करते और ईश्वर को सुमिरते ।

शंकालु मन बड़ा कमजोर होता है। बालक की चिरायु के लिये वे हर जोग-टोटका का सहारा लेते। बच्चा माँ को ही पड़ा है। बच्चे ने माँ की ही आकृति भी पाई और आकार भी। मातुमुखी बालक तो भाग्यवान होता ही है। किसी ने एक टोटका बताया। बच्चे की जीवन सुरक्षा के लिए सब कुछ माना जाता। बच्चे पर से समस्त अनिष्ट की छाया हट जाए, अतः माँ ने अपने कोख के बच्चे को एक धेले में एक भंगिन के हाथ बँचा और फिर खरीद कर अपनाया। यह टोटका फलीभूत भी हुआ। बालक किलकारी मारता बढ़ने लगा ।

बालक तीसरे वर्ष में था। माँ उसे लेकर शिवपुर क्षेत्र में मुण्डन कराने ले गई। वहीं से बच्चे को लेकर मायके भी गई और वहां से वापस आते ही अचानक बेटे की ममता त्यागकर स्वर्गगामिनी हो गई।

ढाई वर्ष का बालक मातृहीन हो गया।

और माँ के अभाव में दादी ने पालन-पोषण का भार संभाला।

राममनोहर की माँ की मृत्यु के बाद पिता हीरालाल ने फिर शादी करने के प्रस्ताव को किसी प्रकार भी स्वीकार न किया। यद्यपि वे अभी युवा ही थे पर अपने सुख के लिए अपने प्यारे बेटे को सौतेली माँ की गोद में सौंपना उन्हें किसी प्रकार भी न भाया। हाँ, अपना मन लगाने के लिए हीरालालजी ने राष्ट्र-सेवा का व्रत ले लिया और कांग्रेस के कार्यों में समय लगाने लगे।

बालक राममनोहर के मातृहीन होते ही आस पड़ोस की सभी औरतों ने उसके लिए अपने स्नेह का आँचल फैला दिया। यों दादी की ममता ने उसे माँ की कभी कमी खटकने न दी। बालक राममनोहर दादी को ही माँ समझता और थोड़ा होश सम्भालने पर

जब उसने पिता को भी दादी को माँ कहते सुना तो वह बड़ा उलझन में पड़ा कि उसके पिता की भी माँ एक ही कैसे हैं !

दादी के अलावा राममनोहर के बचपन में एक और स्त्री ने उनके पालन में बड़ा सहयोग दिया। ये थी सरयूदेई। परिवार की नाइन। उसे राममनोहर से बड़ा स्नेह व लगाव था। उसका बेटा रामनन्दन यद्यपि राममनोहर से आयु में आठ-दस वर्ष बड़ा था, पर वही राममनोहर के शिशु-काल का एक मात्र सखा था। वह राममनोहर का सच्चा साथी था। राममनोहर उसे नन्दा कहकर पुकारते। नन्दा कभी-कभी राममनोहर को तमसा में नहलाने ले जाता और नदी किनारे खूब हुड़दंग मचाता। नटखट राममनोहर भी नन्दा की कम दुर्गति न करते ।

राममनोहर पाँच वर्ष के हुए।

अब स्कूल जाने की बारी थी।

घर के पास ही टण्डन पाठशाला थी। वहीं नाम लिखा गया । अपनी कक्षा का सबसे छोटा छात्र राममनोहर अपनी बाल सुलभ शैतानियों के लिए जल्दी ही सभी के स्नेह का अधिकारी बन गया।

और स्कूल का सिलसिला शुरू हुआ नहीं कि बाल-सखाओं का एक झुंड भी तैयार हो गया। पढ़ाई से अधिक गुल्ली डंडा और कबड्डी में ही समय लगता । एक तो बचपन, फिर एक जैसे कई नटखट बच्चे इकट्ठे हो जाए तो फिर वानर-सेना बनते देर ही कितनी लगती है। बालक राममनोहर अपनी शैतानियों में व्यस्त रहते और बाल सखा नन्दा नाई छाया की तरह उनके चारों ओर मंडराता रहता।

चौथी कक्षा तक टण्डन पाठशाला में पढ़ाई चली।

पांचवी में आने पर नए स्कूल – विश्वेश्वरानाथ हाई स्कूल में दाखिल हुए। यह स्कूल तमसा स्टेशन के पास था। साथ स्कूल जाने और साथ आने का काम नन्दा को ही सौंपा गया। गुल्ली-डंडा और गेंद बल्ला के खेल ही बालक राममनोहर की अधिक रुचि के थे । इन्हीं दिनों राममनोहर ने अलगुजा बजाना सीखा ।

राममनोहर का एक अलगुजा आज भी अकबरपुर में सरयूदेई के घर में सुरक्षित है।

इन्हीं दिनों की घटना है। एक दिन राममनोहर स्कूल जा रहे थे कि रास्ते में देखा कि 19-20 वर्ष की बड़ी उम्र का एक जवान आदमी एक छोटे से बच्चे को पीट रहा है। इतना छोटा बच्चा इतना बड़ा जवान ! लड़ाई बेमेल लगी और लगा कि छोटे बच्चे पर यह जुल्म हो रहा है। बस अपनी उम्र व अपनी दुर्बल काया और शक्ति का ख्याल किए बिना ही राममनोहर ने बस्ता पटका और दोनों हाथों की मुट्ठियों से उस

जवान पर कमजोर प्रहार करने लगे। पिटते बच्चे के लिए दया व करुणा तथा पीटने वाले पर चिढ़, क्रोध व घृणा से राममनोहर का मन तिलमिला उठा।

किसी प्रकार के भी अन्याय के प्रतिकार के लिए राममनोहर जैसे बचपन से ही सतर्क रहे हैं।

आयु तथा समझ बढ़ने के साथ-साथ राममनोहर की पढ़ाई के प्रति भी रुचि बढ़ती गई।

प्रारम्भिक कक्षाओं में वह सदा ही परीक्षा के परिणाम में प्रथमता पाते और सम्भवतः इसीलिए अपने अध्यापकों के स्नेह के सदा अधिकारी रहे।

हीरालाल जी ने काँग्रेस का कार्य प्रारंभ कर दिया था। 1918 में जब वे अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने गये तो बालक राममनोहर को भी साथ ले गये। वहाँ से वे बम्बई गये और वहीं रम गए। हीरालाल जी थोड़े मौजी स्वभाव के थे। अकबरपुर से उनका जी उचटा-सा था सो बम्बई में ही कामकाज का सिलसिला जमाया।

अब राममनोहर का नाम बम्बई के मारवाड़ी विद्यालय में लिखाया गया। यहाँ राममनोहर को शहरी वातावरण मिला। पढ़ाई के विकास के साथ ही नटखट व शरारती स्वभाव को भी बढ़ावा मिला। पढ़ाई में तेज बच्चे यदि शरारती हों तो अध्यापकों के अधिक प्रिय बनते हैं। विद्यालय के अध्यापकों का प्रिय-पात्र बनने का सौभाग्य राममनोहर को पूरी तरह मिला।

पढ़ाई और शरारत के साथ ही उनमें एक और विशेषता थी, जिसके प्रति अध्यापक बहुत आकृष्ट होते थे – वह थी, अंग्रेजी भाषा के प्रति रुचि और वादविवाद तथा वक्तृत्व का अच्छा अभ्यास।

इन्हीं दिनों विद्यालय के छात्रों का एक दल एलीफैंटा की सैर को गया था। वहीं समुद्र में नाव उलट गई। राममनोहर पानी में गिरे पर डूबे नहीं। जीवन में ऐसे खतरों के स्वागत के प्रति रुचि संभवतः राममनोहर के चरित्र में प्रारम्भ से ही थी।

बम्बई के इस विद्यालय में रहते हुए राममनोहर ने अपने स्वभाव के अनुकूल ही बाहरी दुनिया से अच्छा खासा नाता जोड़ना प्रारंभ कर दिया था।

1929 में लोहिया ने द्वितीय श्रेणी में बी.ए. की परीक्षा पास की।

बी.ए. कर लेने के बाद लोहिया के सम्मुख आगे शिक्षा प्राप्त करने की समस्या उठ खड़ी हुई। हीरालालजी अपनी संकुचित आय में ही अपने कुशाग्र-बुद्धि पुत्र को विदेश भेज कर उच्च शिक्षा दिलाना चाहते थे। कुछ मित्रों एवं स्नेहियों की राय थी कि

लोहिया विदेश न जाकर देश में ही उच्चतम शिक्षा लें, लेकिन लोहिया की भी इच्छा विदेश जाने की थी।

विदेश और स्वदेश के बीच निर्णय की प्रक्रिया चल रही थी। छात्रावास छोड़ने के आसपास, एक दिन लोहिया के छात्रावास-काल के दो सखाओं – चौथमल सराफ और बालकृष्ण गुप्त ने व्यंग्य किया – 'लोहिया, तुम विदेश कैसे जा सकते हो ? तुम्हें टाई बांधनी आती है क्या ?'

लोहिया खट्टी मुस्कान मुस्करा कर रह गए। सचमुच उन्हें टाई बांधनी नहीं आती थी। आज तक कोट पैंट ही नहीं पहना था। फिर क्या विदेश में भी धोती चलेगी ?

लोहिया ने टाई बांधने का प्रयत्न किया पर टाई की गिद्धी न बनी।

तब दोनों यारों ने मिलकर लोहिया को टाई बांधना सिखाया ।

उस दिन पहली बार टाई बांधकर, कोट-पैंट पहनकर दोनों मित्रों ने लोहिया को सजाया और तीनों ने एक साथ फोटो भी खिंचवाई।...

लंदन नहीं, बर्लिन

(1929—1933)

लंदन या बर्लिन !

बर्लिन नहीं, लंदन !

नहीं, लंदन नहीं, बर्लिन !

लंदन और बर्लिन के बीच कहां आगे की पढाई चले यह निश्चय ही नहीं हो पा रहा था। लोगों का विचार था कि लोहिया यदि लंदन जाकर ऊँची डिग्री ले आवें तो प्रतिष्ठा अधिक बढ़ेगी, पर लोहिया जाना चाहते थे बर्लिन। इस इच्छा के पीछे भी उनका एक तर्क था। वे कहते थे कि जो देश हमारे देश पर हुकूमत करे उस देश में शिक्षा लेने से हमारी मनसिक गुलामी बढ़ेगी।

1932 में लोहिया ने 'नमक सत्याग्रह' विषय पर अपना शोध—प्रबन्ध पूरा किया और 'डाक्टरेट' की उपाधि भी बर्लिन विश्वविद्यालय से ही प्राप्त की।

इस उपाधि पाने की भी कहानी कम दिलचस्प नहीं है। बर्लिन में जो प्रोफेसर थे वही परीक्षक भी होते थे। चार परीक्षकों ने लोहिया की परीक्षा ली और अन्तिम परीक्षा के काफी दिनों पूर्व प्रो. शूमाखर ने लोहिया को बुलाकर बड़े गोपनीय ढंग से कहा — 'तुम अब यहाँ मत रहो। हिटलरवाद की विजय होने वाली है। ऐसे वातावरण में तुम्हारा जर्मनी में रहना ठिक नहीं है।' यह कहकर लोहिया की परीक्षा का निश्चित तिथि के पूर्व ही प्रबन्ध भी करा दिया।

इस प्रकार 1933 के शुरू के होते न होते 'डाक्टर' की उपाधि से लैस राममनोहर लोहिया विद्यार्थी—जीवन समाप्त कर स्वदेश के लिए रवाना हुए।

.....

संघर्ष की राह ही अपनी (1933—1938)

यह है मद्रास ।

शानदार शहर, शानदार बंदरगाह ।

जर्मनी से आया जहाज किनारे लगा। समुद्र के किनारे लहरों की ही चहल-पहल नहीं मची, जहाज के यात्रियों में भी खूब चहल-पहल ।

इसी जहाज पर जहां अन्य यात्री जल्दी-जल्दी जहाज छोड़ने के लिए अत्यधिक अस्त-व्यस्त परेशान हो उठे हैं, अपने-अपने सामानों को सहेज व गिन रहे हैं वहीं एक सांवले रंग का, नाटे कद का, एकहरे बदन, तेज दिखने वाला भारतीय नौजवान कुछ खट्टे दिल से, थोड़ा उदास-सा जहाज की छत पर रेलिंग पकड़े अपनी मातृभूमि-भारत की धरती-की ओर रोष मिश्रित बेबसी से, सूनी आखों से खड़ा निहार रहा है।

.....

जहाज से उतरकर वे सीधे मद्रास के प्रसिद्ध अखबार 'हिन्दू' के दफ्तर में पहुँचे। वहाँ वे सीधे सम्पादक के कमरे में चले गये। उस समय सम्पादक तो वहाँ न थे। हाँ, एक नायाब सम्पादक से भेंट हुई। वह भी नवजवान ही था। कमरे में यकायक बेधड़क घुस आने वाले इस युवक के प्रतिभा से दपदप चेहरे की ओर उसने कौतूहल और उत्सुकता से देखा। लोहिया ने फर्फटे की अंग्रेजी में तत्काल ही कहा — ' मैं जर्मनी से आ रहा हूँ। आपको एक दो लेख देना चाहता हूँ।'

'कहाँ हैं लेख ?'

'कागज कलम दो, अभी लिख दूंगा।'

'पर क्यों ?'

'मुझे पैसे चाहिए। कलकत्ता जाना है।'

सीधी बात का प्रभाव भी सीधा ही होता है। चुपचाप उसने कागज का पैड और पेंसिल आगे बढ़ा दी।

उसकी मेज पर बैठ कर लोहिया लिखने लगे। कागज पर लोहिया का हाथ मशीन की तरह चल रहा था। तनिक न रुकना, न सोचना। जैसे लेख की सारी बातें पहले से ही मन में भरी थीं।

वह नायाब संपादक आश्चर्य से इस युवक की प्रतिभा का अन्दाज लगाता रहा और लो, लेख तैयार।

अब तक दोनों में थोड़ी दोस्ती भी स्वाभाविक रूप से दोनों में पनप गई थी।

इस हाथ लेख दिया, उस हाथ लेख का मेहनताना मिला। पचीस रूपये। साथ ही उस शाम को अपने घर खाना के लिए नये मित्र ने आमंत्रित भी किया। लोहिया ने सोचा, चलो कलकत्ते तक के टिकट का तो हिसाब बैठा।

शाम को लोहिया नए मित्र के यहाँ पहुँचे। नई दोस्ती थी। विदेश की शिष्टता के नाते मित्र-पत्नी के लिए फूलों का एक गुलदस्ता भी खरीद कर लेते गए। पर मित्र के घर पत्नी न थी, थी एक छोटी-सी बच्ची।

वहाँ जमकर दावत उड़ाई। इस बीच दोस्ती भी जमा ली और फिर नए मित्र को उसकी कृपा के लिए धन्यवाद देकर लोहिया उससे विदा हुए।

अब चलो कलकत्ता !

कलकत्ता आकर लोहिया सीधे अपने चाचा रामकुमार लोहिया के यहाँ पहुँचे। उन्होंने इधर व्यापार में काफी धन कमाया था। वहीं लोहिया को अपने पिता हीरालालजी के सम्बन्ध में सब सूचनाएं मिलीं।

हीरालाल ने पुत्र के विदेश जाने के बाद ही अपना समस्त कारोबार बन्द कर दिया था। वे पूरा समय कांग्रेस के कामों में लगाते थे। वे इस बीच लम्बी अवधि के लिए अलीपुर प्रेसीडेंसी जेल में सजा भी काट आए थे। गीता के बड़े अनुरागी हो गए थे। आजकल बड़ाबाजार को अपना कार्य क्षेत्र बनाकर कांग्रेस के प्रचार में ही सारा समय बिताते थे।

लोहिया ने तत्काल ही पिता से भेंट करनी चाही। तब चाचा रामकुमार लोहिया ने बताया — 'उनका कोई ठिक-ठिकाना या अड्डा तो नहीं है। हाँ, रोज शाम को घूमते-फिरते एक बार जरूर आ जाते हैं। अभी खोजने से भी उनका पता न चलेगा। मैं कुछ जगहों पर खबर भेज देता हूँ। शाम तक अवश्य आ जाएंगे।

और फिर शाम को लोहिया को पिता के दर्शन हुए। पुत्र को वापस आया देख पिता का हर्षित होना स्वाभाविक ही था, पर हीरालाल जी अधिक देर तक हर्ष व उल्लास का प्रदर्शन न कर सके। हाल-चाल पूछकर जल्दी अपने काम में व्यस्त हो गये।

लोहिया ने भी एक दिन बरबाद न करके फौरन ही अपने काम में लगाना चाहा। पिता व चाचा तथा अन्य शुभैषी लोगों ने राय दी कि लोहिया को कोई नौकरी कर लेनी चाहिए। जीविकोपार्जन का कोई उपाय करना तो आवश्यक था ही, पर लोहिया तो पहले से ही निश्चय करके आए थे कि वे राजनीतिक जीवन ही शुरू करेंगे।

लोहिया का निश्चय जानकर कुछ लोग निराश हुए और कुछ लोग प्रसन्न।

फिर कलकत्ता !

कलकत्ता का संघर्षमय कठिन जीवन !

कहावत है न कि, 'रंग लाती है हिना, पत्थर पे घिस जाने के बाद।' सो कलकत्ते का यह जीवन लोहिया की घिसाई का काल था। हिना रंग लाने वाली थी।

1934 में जब कांग्रेस संगठन के भीतर ही 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' का निर्माण हुआ था तभी 'कांग्रेस सोशलिस्ट' नामक इस नई पार्टी के साप्ताहिक मुख-पत्र के प्रकाशन की योजना बनी और इसके सम्पादक बनाए गए लोहिया। विचारों के नएपन व तर्क की प्रभावित करने वाली चमक के कारण जर्मनी से ताजे लौटे लोहिया पर यह जिम्मेदारी तत्काल सौंप दी गई। लोग लोहिया की प्रखर प्रतिभा से बुरी तरह प्रभावित थे।

और लोहिया ने भी यह जिम्मेदारी स्वीकार करने में तनिक भी झिझक न दिखाई। वह तो बेचैन नवजवान थे, जिन्हें मनपसंद काम की तलाश थी ही। फिर राजनीति में लोग अधिक उत्साही युवक पर शक्ति से अधिक भर लाद देने में कोई संकोच भी नहीं करते।

'कांग्रेस सोशलिस्ट' पत्र का प्रकाशन कलकत्ते से ही शुरू हुआ। लोहिया जी-जान से पत्र के काम में जुट गए, पर जीविका की समस्या की ओर किसी ने ध्यान न दिया। लोहिया के सम्मुख यह समस्या पूर्ववत् ही बनी रही, बल्कि पहले से भी अधिक उग्र व भयानक बनकर प्रकट हुई।

ओंकार शरद द्वारा लिखित पुस्तक 'लोहिया (एक प्रामाणिक जीवनी)' से उद्धृत
(प्रकाशक - लोकभारती प्रकाशन)